

अस्मिता और बच्चों की शिक्षा पर मंडराते खतरों से जूझ रहे केसला के आदिवासी

आदिवासियों का अपने जंगलों से दूर होने की वजह से पर्यावरण संतुलन का काफी नुकसान हो रहा है। इसलिए हर साल आदिवासी दिवस मनाकर उनकी संस्कृति, उनके रहन-सहन, साहित्य, अस्मिता, और उनके अधिकार को बचाने की बड़ी-बड़ी बातें जब सरकार करे, तब हमें उनकी आदिवासी विरोधी नीतियों का व्यापक सन्दर्भ ज़रूर याद दिलाना चाहिए।

॥ सचिन सक्सेना ॥

सरकार हर साल 9 अगस्त यानी विश्व आदिवासी दिवस को जोर-शोर से मनाने की कोशिश में होती है। इस दिन को धूमधाम से मनाने की जदोजहद में सरकार सोशल मीडिया और दैनिक अखबारों के जरिये यह संदेश देती है कि हम भी आदिवासी भाई-बहनों के साथ हैं और यह जताने की कोशिश करती है कि आदिवासियों के हित, संरक्षण और उनके विकास के लिए लगातार कार्य किए जा रहे हैं। इसलिए आदिवासी समुदाय को बिलकुल भी चिंतित होने की जरूरत नहीं है।

लेकिन आदिवासियों के हित की बात को गंभीरता से परखेंगे तो समझ में आता है कि सरकार की कथनी और करनी में काफी अन्तर है। आज भारत देश को अंग्रेजों की गुलामी से आजाद हुए 75 साल हो गए हैं, लेकिन अभी भी जंगल में आदिकाल से बसने वाले आदिवासी समुदाय के साथ अमानवीय अत्याचार जारी हैं। दूसरी तरफ अपने जंगल पर हो रहे अतिक्रमणों के खिलाफ आदिवासी समुदाय लगातार संघर्षरत हैं। किन्तु इस संघर्ष को लगातार हो रहे विनाशकारी विकास और आदिवासियों के हित के नाम से चलाई जाने वाली योजनाओं के तले छिपाया जाता है। इस तरह के संघर्ष को “आधुनिक समाज के नजरिए” से ओझल रखा जाता है। हर साल आदिवासी दिवस आने पर उनकी संस्कृति, साहित्य, अस्मिता और उनके अधिकारों से जुड़ी बातों पर सतही चर्चा होती है।

विनाशकारी विकास इसलिए है, क्योंकि भारत देश के ज्यादातर आदिवासी परिवार सदियों से अपनी संस्कृति और जीवनशैली के साथ जंगलों में गुजर-बसर कर रहे हैं। जंगल और आदिवासियों का रिश्ता बहुत गहरा और जीवन्त है। इसलिए जंगलों और पर्यावरण के सबसे निःस्वार्थ संरक्षक यही लोग हैं। लेकिन ऐसे इलाकों में जब बड़े-बड़े बाँध और टाइगर सेंचुअरी जैसी कोई विकास परियोजना बनाई जाती है, तो यहां निवासरत आदिवासियों को जंगल से विस्थापित किया जाता है। क्योंकि सरकार और कुछ वन्यजीव संरक्षण समूहों का यह मानना है कि आदिवासी ही पर्यावरण के सबसे बड़े दुश्मन हैं। जंगल में रह रहा आदिवासी समुदाय ही जंगलों को खत्म कर रहा है। सरकार और कुछ वन्यजीव संरक्षण समूहों की इस गलत नीति और सोच के चलते विकास और वन संरक्षण का सबसे गंभीर खामियाज़ा आदिवासियों को ही झेलना पड़ता है। वे विस्थापन के साथ-साथ अन्याय, अत्याचार के घाव भी झेलते हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि वे अपना जंगल, जानवर, उनसे बनाए हुए रिश्ते, अपनी यादें, अपने परम्परागत संसाधन और अपनी आजीविका खो देते हैं।

आज जंगल को लेकर गांव और शहरों में समझ का अंतर बहुत बिखरा हुआ और सीमित है। बड़े-बड़े शहरों में बैठकर सरकार और कुछ वन्यजीव संरक्षण समूहों को लगता है कि विस्थापन सिर्फ कुछ ही गांवों का मामला है, सबके हित के लिए कुछ लोगों को थोड़ा बहुत खामियाज़ा भरना पड़ सकता है। लेकिन किसी गांव की जमीन पर खड़े होकर देखने से पता चलता है कि उनकी तो पूरी दुनिया ही उजड़ रही होती है, वह भी सिर्फ मौजूदा ही नहीं बल्कि आनेवाली कई पीढ़ियों की भी ज़िंदगियाँ बदलने वाली होती हैं। कंक्रीट से लदी चौड़ी रोड, टाइगर सेंचुअरी और बाँध का विकास न केवल जंगल का विनाश कर रहे हैं, बल्कि जंगल और पहाड़ों के बीच में रहने वाले लोगों एवं जानवरों के

जीवन और उनके रिश्तों को भी खतरे में डाल रहे हैं। और इस खतरे को पास से देखने, समझने पर लगता है कि यह भी एक सीमा पार की लड़ाई जैसा ही है।

अपने आप को विकास और संरक्षण के पक्षकार कहने वाले लोगों का (जिनमें पर्यावरण शोधकर्ता, सरकार के साथ काम करनेवाले लोग बड़ी तादाद में शामिल हैं) मानना है कि जंगल तो आदिवासी समुदाय ने बर्बाद किया है और आदिवासियों का जंगल से केवल लेने का रिश्ता है। पर यह बात बिल्कुल गलत है। सच्चाई यह है कि सरकार और ऐसे वन्यजीव संरक्षण समूह जंगलों की घटित वास्तविकता से कोसों दूर हो चुके हैं! और उन्हें पता ही नहीं कि आखिर जंगल में क्या—क्या चल रहा है। जंगल को देखने का उनका चश्मा मुख्यधारा की चौड़ी रोड की तरह हो गया है। उनके लिए विकास के मायने बड़ी बिल्डिंग, हाईवे और फैक्ट्रियों की बढ़ती संख्या तक आते—आते खत्म हो जाते हैं। मध्य प्रदेश, होशंगाबाद जिला के केसला ब्लॉक में पिछले एक साल से एकलव्य संस्था माध्यमिक स्कूल के बच्चों के साथ मोहल्ला गतिविधि केंद्र के माध्यम से विज्ञान शिक्षा पर सीखने—समझने की कोशिश कर रही है। इस कोशिश में हमने खुद देखा, समझा और सीखा है कि जंगल के प्रति आदिवासियों और उनके बच्चों का नज़रिया बिल्कुल अलग है।

मोहल्ला गतिविधि केन्द्र

कोविड-19 की महामारी के दौरान बच्चों की सुरक्षा को प्रमुखता से ध्यान में रखते हुए लगभग सभी स्कूलों में पूरी तरह से तालाबंदी हो गयी थी। ऐसी स्थिति में सरकारी शिक्षा विभाग स्कूलों में ऑनलाइन तरीके से स्कूली शिक्षा के साथ बच्चों को जोड़ने के प्रयास में थी। लेकिन ग्रामीण इलाके के कुछ खास गांवों में ऑनलाइन शिक्षा कर्तव्य संभव नहीं थी क्योंकि इन गांवों में रहने वाले सभी बच्चे आदिवासी समुदाय के हैं और इंटरनेट की सुविधा वाले महंगे फोन का बच्चों तक पहुंच पाना काफी मुश्किल था। आप इंटरनेट छोड़िए, नेटवर्क तक की व्यवस्था नहीं है आज भी कई गांवों में। इसलिए एकलव्य संस्था ने इन्हीं गांवों के ही कुछ पढ़े—लिखे और शिक्षा में रुचि रखने वाले युवा साथियों और समुदाय के साथ मिलकर मोहल्ला गतिविधि केंद्र शुरू किए। हर रोज बच्चे स्वेच्छा से इन केंद्रों में आते हैं और सरल गतिविधियों की मदद से विज्ञान, गणित और हिन्दी की पढ़ाई करते हैं। आज स्कूलों के नियमित खुलने के बाद भी सुबह

या शाम को बच्चे इन गतिविधि केन्द्रों पर आकर कुछ सीखने—समझने में लगे रहते हैं।

जंगल पर निर्भरता और बच्चों में उभरता ज्ञान

गर्मी के मौसम में मोहल्ला गतिविधि केन्द्रों में जब अचानक बच्चों की उपस्थिति शून्य हुई, तो हम थोड़ा डर गए। केंद्र संचालक साथियों से पता किया कि बच्चे क्यों नहीं आ रहे हैं, कहाँ चले गए तो उन्होंने बताया कि गांव में सभी बच्चे और बड़े आजकल महुआ बीनने जाते हैं। चूंकि हम भी पहली बार ही इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं, हमारे मन में कई सवाल आ रहे थे। हमें लगा स्कूलों में जाकर बच्चों से बात की जाए कि गतिविधि केंद्र के समय में कुछ बदलने से वे आएंगे या नहीं। स्कूलों में बच्चे तो पूरी तरह से नदारद थे। हम और भी चिंतित हुए। हमें लगा एक बार बच्चों और पालकों से सीधा मिला जाए, हो सकता है कुछ बात बन पाए।

केंद्र के समय गांव में चक्कर लगाने पर गांव में बच्चे भी नहीं मिलते, बच्चों के माता पिता भी नहीं मिल पा रहे थे। ऐसे में सोचा कि गांव में शाम ढलने के बाद जाया जाए और पालकों से मिलकर उनसे उनका हालचाल और बच्चों के बारे में पूछा जाए। अलग अलग गांवों में जब पालकों से बात शुरू हुई, तो पालकों ने बताया कि—साधना के पिताजी—बड़ी बेटी के साथ पूरा परिवार महुआ बीनने के काम में लगा है, जैसे ही महुआ बीनने का काम खत्म होता है, बड़ी बेटी को मैं केंद्र में जरूर भेजूँगा।

राकेश की माँ—मेरे परिवार में कोई भी पुरुष नहीं है। दो बेटे हैं, एक बेटा बाहर पढ़ता है, तो अभी खेती में जो भी मदद लगती है मैं उससे मांगती हूं। खेती का एक दो दिन का काम और बाकी है और महुआ भी आठ दस दिन में ख़त्म होने वाला है। जैसे ही हो जाता है, मैं राकेश को केंद्र में भेज दूँगी।

अजय के पिताजी, महुआ बीनने का काम शुरू है, और गेहूं की कटाई भी, आठ दस दिन तो लगेंगे ही। आकाश के पिताजी, दोनों बेटों के साथ हम महुआ बीनने जाते हैं और दिन भर खेत में काम करते हैं। सगुना, भैया हम दिन भर महुआ के पेड़ के नीचे खेलते रहते हैं, तांकि गैया—दोर महुआ न खा जाए। रामजाने भैया, हम महुआ बीनने के लिए सुबह से ही काफी दूर तक जाते हैं, वापस आते तक थक जाते हैं, इसलिए शाम के समय सो जाते हैं।

महुआ बीनना बच्चों के लिए इतना जरूरी क्यों

है? क्या विशेषता है कि इस काम में जिसमें पूरा परिवार जुट जाता है? यह जानने के लिए हमें जब भी बच्चों के साथ जंगल जाने का मौका मिलता है सो हम खुशी से जाते हैं। वहां हमें कुछ बच्चों के साथ की गयी बातों से पता चला कि बच्चे बहुत सबेरे उठकर खाना बनाकर महुआ बीनने जंगल में जाते हैं। उन्हें जंगल में आकर खेलना और महुआ बीनना बेहद पसंद है। और महुआ बीनने से लेकर उसके बिकने और उपयोग करने तक बच्चे अपने परिवेश से काफी कुछ सीखते हैं।

अविनाश—हम लोग महुआ को दो दिन कुप्पा में पानी डालकर रखते हैं, और उसके बाद सभी महुआ को पीसकर पहले वाले पानी में मिलाते हैं। ये हमारे लिए दवाई का काम करता है। मूँग के पौधों पर जब फूल आते हैं, तब उन पर होने वाली इलियों को खत्म करने के लिए इस दवाई का उपयोग करते हैं।

निर्भय—मैं काफी साल से इसी पेड़ के महुआ बीनता हूं, मानो ये पेड़ मेरा दोस्त बन गया है। महुआ जिस मौसम में गिरता है, मैं दिन भर पेड़ के पास रहता हूं। मुझे यहाँ अच्छा लगता है। महुआ को सुखाकर बेचते हैं और उसकी दारु बनाकर भी बेचते हैं। लेकिन दारु बनाकर बेचने से हमें ज्यादा पैसे मिलते हैं। मैं खुद भी जानता हूं कि दारु कैसे बनाते हैं।

अविनाश के दवाई बनाने का तरीका और निर्भय ने जिस तरीके से दारु बनाने की विधि को विस्तार से बताया तब हम खुद काफी हैरान भी हुए और खुश भी। इन बच्चों का ज्ञान किसी बड़े रासायनिक प्रयोगशाला केमिस्ट से कम नहीं है।

ऐसे ही एक बार मांदीखोह के जंगल में महुआ बीनते समय एक दादाजी ने बताया कि महुआ गिरने के शुरुआत से ही महुआ के पेड़ के आसपास का कचरा, जो भी परिवार साफ करेगा और पेड़ पर अपना कोई कपड़ा, थैला, या महुआ रखने वाली चीजों को रखता है वो परिवार ही उस पेड़ का महुआ बीनता है। महुआ के पेड़ रोकने में कभी कभी छोटे-बड़े झगड़े होते हैं लेकिन बहुत ही आसानी से आपस में सुलझा लिये जाते हैं। दादाजी ने बताया कि महुआ बीनने के काम से सालाना लगभग एक लाख रुपये की आमदनी हो जाती है। लेकिन किसी किसी साल कम भी होती है। बच्चे अपने महुआ को बीनकर कभी कभी अलग रखते हैं और जो पैसा उससे मिलता है, उससे अपने पसंद की चीजें या कपड़ा खरीदते हैं। लेकिन घर में अगर कोई बड़ा उत्सव करने जैसा या कुछ शादी का सोचा

गया हो या किसी का कर्ज वापस देना होता है तो बच्चे भी अपने बीने हुए महुआ का पैसा परिवार में देते हैं।

एक बार हम बच्चों के साथ जंगल में मैगी पार्टी करने गए। जंगल धूमने जाने की बात आयी तो बच्चों ने कहा कुछ खाने का इंतज़ाम भी करते हैं। कभी मैगी खायी नहीं थी, बस सुना था उसके बारे में, इसलिए बच्चों को वह बनाकर देखना था। खैर, उनमें से बहुतों को वह पसंद भी नहीं आयी लेकिन जंगल जाकर, साथ मिलके कुछ बनाने में सबको मज़ा आया। सब बच्चों का और हमारा मैगी खाने के बाद हम सभी मिलकर वहां कचरा जला रहे थे तो कक्षा 5 में पढ़ने वाला अजय और उसके दोस्त कहने लगे कि हम ये कचरा जलाकर इसपर पानी डालने के बाद ही जाएंगे, नहीं तो जंगल में आग लग सकती है। थोड़ी देर बाद कुछ बच्चों ने पास के ही ताल से थोड़ा पानी लाकर राख पर डालकर ये सुनिश्चित किया कि राख ठंडी हुई या नहीं।

बच्चे अपने परिवार और दोस्तों के साथ अलग अलग कामों में लगे रहते हैं। इस वजह से भी गतिविधि केन्द्रों में बच्चों की उपस्थिति अक्सर कम—ज्यादा होती रहती है। जैसे महुआ के बाद गुल्ली बीनने का काम शुरू होता है। गुल्ली के बाद तेन्दू पत्ता (बीड़ी पत्ता) को तोड़ना और उसकी गड्ढी बनाना। अचार (चिरोंजी), सागवान के बीज और आवला को जंगल से जमा करना। खेतों में गेहूं, मूँग, मक्का इत्यादि की बुआई और कटाई के काम में मदद करना। खेतों की फसल को बचाने के लिए फूलों पर से पछियों को भगाना, डंगरबाड़ी की रखवाली करना। इन सब कामों के अलावा कुछ बच्चे परिवार के साथ वन विभाग के कामों में भी अपना हाथ बटाते हैं।

इन सभी बातों से समझ में आता है कि बच्चे समाज में और परिवार के काम—धंधों में भी अपनी भूमिका निभाते हैं। जंगल में रहते हुए बच्चे अपने परिवेश से काफी कुछ सीखते हैं। जैसे जंगल के पेड़ों को पहचानना, जंगल में मिलने वाली जड़ी-बूटी के बारे में भी काफी कुछ जानना। साथ ही जीव—जंतु और पेड़ पौधों के बीच के रिश्तों के बारे में भी काफी कुछ जानते हैं। जंगल के बीच से बहने वाली नदी और उसमें मिलने वाली तमाम मछलियों के बारे में भी खूब जानते हैं। बच्चे बड़े-बूढ़े के साथ रहते हुए पारंपरिक ज्ञान से सीखते हुए जंगल की विरासत को सुरक्षित रखने और सहेज कर रखने की बात भी सीखते हैं।

कोटमीमाल जहाँ हमारा एक गतिविधि केंद्र चलता है, उसी के पास तवा नदी के पार खामदा नाम का एक गांव था। सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के बफर जोन में आने के कारण इस गांव को हाल ही में विस्थापित किया गया। गांव में जाने के लिए एक नाव का सहारा लेना पड़ता था। हम भी एक रात उस गांव में रहकर कुछ बातचीत करके आए।

विस्थापन को एकदम पास से समझने के लिए यह गांव हमारे लिए कई मायने में महत्वपूर्ण था। बातचीत में हमें पता चला कि पहले इस गांव में कुल 50 परिवार रहते थे। धीरे धीरे कुछ परिवार नए खामदा में विस्थापित हो गए। अभी जितने परिवार बचे हैं उनको भी सरकारी मतलब वन विभाग का आदेश आ गया है कि आठ पन्द्रह रोज में आपको भी यह गांव खाली कर देना है—गेहूँ की फसल काट लो, अपने खेत साफ़ कर लो और कोई नयी फसल के बारे में अभी सोचो भी मत—मतलब विस्थापन के पूर्व समुदाय की मुख्य आजीविका ही बंद। हमें जानकर यह अचंभा हुआ कि नया खामदा कोई एक जगह नहीं बसने वाला बल्कि तीन अलग अलग जगह विस्थापित होने वाला है। जहाँ उन्हें बसाया जाता है उस स्थान में रहने के लिए कुछ भी व्यवस्था होती नहीं है। बारिश और धूप से बचने के लिए पहले उन्हें उस जगह जाकर कुछ टपरे खड़े करने पड़ते हैं। विस्थापन के बाद पूरा परिवार मिलकर सिर्फ़ रोटी और मकान के लिए जद्दोजहत करते रहता है।

एक तो रहने की सुविधा नहीं, अस्पताल और स्कूल की तो पूछो ही मत। बच्चों के लिए शायद और भी मुश्किल हो जाता है। उनकी पढ़ाई पूरी तरह से रुक जाती है। शिक्षा की जगह अशिक्षा साथ में होती है। खामदा जैसे विस्थापन से तो बच्चों के पुराने दोस्त भी उनके साथ नहीं होते। मनोरंजन की कमी और नये परिवेश से उनके स्वाभाविक विकास पर रोक लग जाती है। खेल का मैदान, जंगल, पेड़, पंछी जानवर और खुले स्थान की कमी उनके लिए घुटन पैदा करती है। कुल मिलाकर ऐसे विस्थापन से समझ में आता है कि यह एक ऐसी त्रासदी है जो बच्चों के सामाजिक जीवन में अंधेरा कर देती है।

खामदा गांव के पूर्ण विस्थापन होने के लगभग दो माह बाद हमने कोटमीमाल के साहिल (कक्षा 6) के साथ बातचीत की। साहिल नए खामदा में एक सप्ताह रहकर आया था। साहिल ने अपने बातचीत में बताया

कि पुराना खामदा ही सही था। अभी सिर्फ़ छाये के लिए कुछ बना है, घर बनने के लिए अभी काफी समय लगेगा। उसने बताया कि पुराने खामदा से कल ही उसके मामा कवेलू लेकर गए। अपने पालतू जानवर जैसे गाय-ढोर को सभी परिवारों ने पुराने खामदा में ही छोड़ा है। उसके मामा और बाकी सब लोग जहाँ रहते थे, उस पूरी जगह को वन विभाग ने जला दिया है। यह बात सुनकर तो हमारा दिल दहल ही गया। नाव वाले भैया के बारे में पूछने पर साहिल ने बताया कि वो भी नए खामदा चले गए हैं और उनकी नाव नदी के एक किनारे पर खड़ी है।

एक गांव जब अपनी पुरानी जगह से विस्थापित होता है तो उस गांव में रहने वाला समुदाय अपना सब कुछ खो देता है। जैसे जंगल, पेड़, पंछी, जानवर, उनके साथ बने हुए रिश्ते, अपना पड़ोसी, अपना घर और अपना रोजगार। एक बड़ा सवाल सामने आता है कि विस्थापन करने के पहले सरकार यह सब बात सोचती क्यों नहीं है। विस्थापन की पूरी प्रक्रिया में हमेशा कुछ देने की बात होती है, लेकिन अधिकारों की कोई बात नहीं करता। आदिवासियों के अधिकार, जल-जंगल-जमीन के अधिकारों, स्वास्थ्य के अधिकारों की बात कोई नहीं करता।

“वे जंगल को पालते हैं, और जंगल उन्हें भी”। शुरुआती समय में आदिवासी समुदाय बाजार से केवल नमक और कपड़ा लेता था, क्योंकि जंगल और खेती से बाकी सब कुछ मिल जाता था। पहले गांव जंगल पर काफी चीजों के लिए निर्भर होता था। घर से निकला भूखा इंसान जंगली फलों से अपनी भूख मिटाकर वापस आता था। जंगल से लोग गोंद, तेंदू पत्ता, अचार (चिरोंजी) महुआ, गुल्ली, जंगली शाक, चूल्हे के लिए लकड़ी और हरा पत्ता ये सब लेते थे। साथ ही गाँव वालों के ढोरों के चारे का भी साधन भी जंगल हुआ करता था। जंगल से जानकार लोग कुछ जड़ीबूटी भी लाते थे। समुदाय के साथ की गयी बातचीत से यह समझ में आया कि जितना जंगल से लेने का काम किया जाता उतनी ही चिंता जंगल को बचाने की भी होती है, जितनी जरूरत है उतनी ही सूखी लकड़ी को लेना, कुछ कांटेदार पौधों को खेत में बागुड़ के लिए उपयोग में लाना, जंगल को आग से बचाना इत्यादि। पहले के जमाने में लोग जंगलों में बंधान बनाने का काम भी किया करते थे। मिट्टी रोकने के लिए पत्थर बिछाते थे जिस वजह से मिट्टी बहकर पत्थर में आ

जाती थी और बड़े पेड़ों को गिरने से बचाया जाता था।

जंगल के पेड़, पंछी, जानवर को दोस्त और रक्षक के रूप में पूजना, आदिवासी संस्कृति की एक और प्रमुख बात है। चाहे शादी हो या त्योहार, जन्म से लेकर मृत्यु के बाद तक सब कुछ जो है वह जंगल और जानवर से जुड़ा हुआ है। शादी में साज के पेड़ की पूजा, दूल्हे के लिए छींदे की पत्ती का सेहरा, त्यौहार में महुआ का रस, अच्छी सेहत के लिए साल में एक बार जड़ी-बूटी का सेवन, जंगलों में बाधों और जंगली जानवरों से सदियों से जो सहवास बना है उसके लिए बाघदेव की पूजा, समुदाय की एकता को बनाये रखने के लिए जंगल की एक खास बेला की पूजा। इन सभी बातों से समझ में आया कि सच में जंगल के जीव एवं जीवन के बारे में कथित मुख्यधारा से आने वाले कुछ वन्यजीव संरक्षण समूहों को कुछ भी नहीं पता।

जंगल के पेड़, पंछी, जीव—जंतु जानवर और इन सभी के साथ रहने वाले आदिवासी लोग आपसी रिश्तों में बंधे होते। वे सभी एक—दूसरे के साथ होने से पूरे होते हैं। उनके लिए यही सामान्य जीवन है। इसलिए इस परस्पर जीवन के चक्र में किसी एक का भी नष्ट हो जाना बाकियों के लिए खतरा है। लेकिन इस बात को शायद सरकार और वन्यजीव संरक्षण समूहों के लोग क्या ही समझेंगे। पहले तवा बाँध की वजह से इस आदिवासी समुदाय ने अपनी खेती खो दी और अब टाइगर प्रोजेक्ट के चलते गाँव वालों की रहने वाली जमीन को टाइगर प्रोजेक्ट का बफर ज़ोन बना दिया जा रहा है।

गांव वालों को इन सरकारी नियमों से काफी दिक्कत है। उन्हें लगता है कि टाइगर प्रोजेक्ट वाले गांव वालों की जमीन धीरे धीरे खींच रहे हैं। उनका यह भी कहना है कि 'सरकार तो बाद में बनी है सबसे पहले तो हम आये, हमारे जमीन का हक कोई नहीं छीन सकता। पार्क वाले, सेंचुरी वाले, टाइगर वाले यह सभी तो अभी आये हैं हम तो कब से यहाँ ठहरे हुए हैं। सेंचुरी वालों ने अचार, महुआ सभी काट भी लिया और डूब की जमीन भी छीन ली। यह बातचीत मांदीखोह और बारधा गांव में एक समूह चर्चा के दौरान सामने आई थी। वर्तमान में गांव वालों को जंगलों में जाने के लिए रोक भी लगा दी जाती है और अपने ही जंगल से चूल्हे के लिए लकड़ी, महुआ, तेन्दू पत्ता और जंगल के बीच से बहने वाले नदी से मछली चुराने का आरोप लगाया जाता है। बहुतांश आदिवासी समुदाय की इस

मुद्दे के लिए लड़ाई अभी भी जारी है।

मछली की खेती और प्राकृतिक संतुलन की बात! हमने तवा मत्स्य संघ से जुड़े लोगों से भी बातचीत की। बालाराम चौहान भाई (तवा मत्स्य संघ, केसला) और बारधा गाँव में कुछ बुजुर्गों के साथ बातचीत (आरोक के आसपास नवजीवन की आहट—भारत डोगरा)। इस बातचीत से हमें पता चला कि तवा मत्स्य संघ का काम लगभग 10 साल चला। यह काम एक प्रकार का सरकारी ठेका मिलने जैसा ही था।

शुरुआत में सरकार ने तवा जलाशय में मछली पालन करने का ठेका भोपाल के किसी ठेकेदार को दिया था। लेकिन सरकारी काम में मछली बीजों के बढ़ने से लेकर मछली पालन की कोई भी खास व्यवस्था नहीं थी। बाद में तवा मत्स्य संघ ने न केवल उसका विरोध किया अपितु अपनी सहकारी समितियाँ गठित कर तवा जलाशय में मछली पकड़ने की लीज प्राप्त करने का दावा भी पेश किया। वर्ष 1996 में सरकार ने 5-5 साल के लीज पर तवा मत्स्य संघ को मछलीपालन का अधिकार दिया। तवा मत्स्य संघ के मछली पालन के काम में होने वाला फायदा और नुकसान का साझाकरण सभी के साथ समान तौर पर था। मछली बीजों के लिए तवा मत्स्य संघ ने अलग अलग गाँव में लगभग छह डिपो तैयार किये थे। जहां मछली बीजों का पोषण होता था और बीज थोड़ा बड़ा होता था तो फिर तवा जलाशय में डालते थे। इस वजह से तवा जलाशय में मछली का पोषण और भी बेहतर होता था।

मछली पकड़ने में एक नियम था कि रोहू मछली 1 किलो से कम और कतला मछली 2 किलो से कम अगर जाल में फंसती है तो ऐसे मछलियों को वापस जलाशय में डालना जरूरी था। जैसे ही बारिश शुरू होती है तो उस दौरान मछलियों का प्रजनन समय होता है, इसलिए लगभग दो—दोहरा माह मछली पकड़ने का काम पूरी तरह से बंद रहता है। इस कार्यप्रणाली की वजह से मछली उत्पादन में काफी बढ़ोतरी होती थी। यहाँ की मछली हावड़ा—कोलकत्ता तक जाती थी। कुल मिलाकर एक बढ़िया काम और आय का साधन शुरू था।

सरकार और वन्यजीव संरक्षण समूहों से यह देखा नहीं गया और सरकार ने कहा कि तवा जलाशय सतपुड़ा टाइगर रिजर्व प्रकल्प में समाहित हुआ है, इसलिए आगे तवा मत्स्य संघ का लीज नहीं मिलेगा।

सरकार ने यह भी कहा कि मछली पालन करना है तो जलाशय के किनारे वाले भाग में व्यक्तिगत तौर पर कर सकते हैं, इसके लिए किसी संघ की जरूरत नहीं है। मारो, पकड़ो और खाओ—इस सरकारी आदेश से मछली के खेती का काम तहस नहस हुआ। बाहरी लोग भी आए, अपने अनाप शनाप प्रयोग किए लेकिन सब कुछ फेल हुआ। और मछलियों की संख्या साल दर साल कम हो रही है। इतने बड़े जलाशय में पहले के मुकाबले आज केवल 10–20 प्रतिशत ही मछलियां होंगी। इन सभी बातों से यह समझ में आता है कि आदिवासी समुदाय जिस प्रकार से तवा जलाशय में मछली की खेती कर रहे थे, वे प्राकृतिक संतुलन को बनाये रखे थे। शायद ये प्राकृतिक संतुलन भी सरकार को भाया नहीं क्योंकि उन्हें तवा जलाशय में फिल्मी सितारों को घुमाने का काम जो शुरू करना था। शायद यह सोचने वाली वाली बात है कि जल, जंगल और जमीन तो उनकी, लेकिन फायदा किसी और को?

विस्थापन का और विस्थापन होना बाकी है।

किसान आदिवासी संघटन के फागराम जी से की गयी बातचीत से यह पता चला कि जितनी भी डंगरे—मंगरे (तरबूज—खरबूज) की खेती बची हुई है वो भी सब कुछ खत्म होने वाली है। जितनी भी बढ़िया खेती होती है उस पर भी एक नया खतरा मंडराने वाला है क्योंकि तवा जलाशय के गहरीकरण की बात चल रही है। इस गहरीकरण के काम में लाखों टन मिट्टी भी निकलेगी, अब वो मिट्टी तो तवा नदी के किनारे में हो रही बढ़िया खेती में ही फेंकेंगे। तवा के इस गहरीकरण से कुछ और गांव विस्थापन की चपेट में आने का अंदेशा लगाया जा रहा है। पता नहीं उन गांवों और समुदाय का आगे क्या होगा?

समझने वाली बात यह है कि एक तरफ वन अधिकार कानून कहता है कि जंगल से जुड़े हुए सारे अधिकार आदिवासी समुदाय के हैं तो फिर टाइगर प्रोजेक्ट वाले कौन होते हैं इन्हें जंगलों से महुआ, तेन्दू और अचार लेने से रोकने वाले। जब कोई 2, 5 और 20 हजार की रसीद कटवाकर जंगल देखने जाता है तो वह वहां पे छोटी मोटी फिल्म बना सकता है, मजा ले सकता है। लेकिन अगर उसी जंगल का कोई बाशिंदा एक पायी महुआ बीनता है या चूल्हे के लिए सूखी लकड़ी लेता है तो उनके साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया जाता है जैसे कि भारत-पाकिस्तान की सीमा पे लड़ाई चलती है। न ही उनकी भौगोलिक

परिस्थिति और संस्कृति को समझा जाता है, न ही उनकी जीविका को समझा जाता है। अगर आदिवासी समुदाय जंगल काटते तो जंगल तो कभी के खत्म हो जाते। जंगल तो सरकार काटती है, आज हमें देखने को मिलता है कि रोड के चौड़ीकरण के लिए, तवा बाँध के लिए और टाइगर सैंचुरी में गेस्ट हॉउस बनाने के लिए कई लाख पौधे उखाड़ फेंके हैं।

आज हमें जो जलवायु में परिवर्तन दिख रहा है जैसे कि कहीं बाढ़ तो कहीं सूखा—यह सब प्रकृति के साथ किए शहरी लोगों के असंतुलित व्यवहार का नतीजा है। अब यह गंभीर मसला खुद पर बन आया तो जंगल बचाओ—पर्यावरण बचाओ का नारा लगाकर सरकार और वन्यजीव संरक्षण समूह कहते हैं कि जंगल को यहां रहने वाले लोगों से ही खतरा है। अब जरा आप ही बताओ कि जिनका जीवन और संस्कृति जंगल ही है, वे ऐसे कैसे जंगल को नुकसान पहुंचा सकते हैं! पेड़, पंछी, जानवर के बिना और जंगल के बाहर आदिवासी अस्तित्व की कल्पना करना बेहद मुश्किल है। मुख्यधारा के विकास के मॉडल में आदिवासियों की विभिन्न परिस्थितियों को नज़रअंदाज करना एक विनाशी अभिशाप जैसे लगता है। टाइगर प्रोजेक्ट और बड़े बाँधों के विकास के नाम पर आदिवासियों को उनके जंगल से, जमीन से बेदखल करना, उन पर हिंसात्मक कार्यवाही करना और विस्थापित होकर, मजदूरी के लिए पलायन करना आज की सच्चाई है। आदिवासियों का अपने जंगलों से दूर होने की वजह से पर्यावरण संतुलन को भी काफी नुकसान हो रहा है। इसलिए हर साल आदिवासी दिवस मनाकर उनकी संस्कृति, उनके रहन सहन, साहित्य, अस्मिता, और उनके अधिकार को बचाने की बड़ी-बड़ी बातें, जब सरकार करे तब हमें उनकी आदिवासी विरोधी नीतियों का व्यापक सन्दर्भ ज़रूर याद दिलाना चाहिए।

(इस लेख में लिखे गए अनुभव और तमाम बातचीत उक शैंध अध्ययन का हिस्सा हैं जो, TESF (Transforming Education for Sustainable Futures) प्रौंजैक्ट के जरिये चल रहा है। इस लेख को व्यवस्थित आयाम दैने का सहयोग स्वयं श्रीवड़े, हिमाशु श्रीवास्तव और आङ्ग्लशा कावलकर इन सभी ने लिया है।)

संदर्भ

1-<https://cjp.org.in/writ-petition-wildlife-first-vs-union-of-india/>



लेखक : एकलव्य फाउंडेशन में रिसर्च असिस्टेंट हैं।

श्रौत : sachin.saxena@eklavya.in